आत्म-बोध

(केन, ईश उपनिषद्)

किट नहीं किया जा
ससे वाणी प्रकट होती
मान। यह लोक जिसकी
है उसको नहीं।"
मनन नहीं होता अपितु
करता है उसे ही तू
लोक जिसकी उपासना
उसको नहीं।"
नहीं देखा जा सकता
देखते हैं उसे ही तू
लोक जिसकी उपासना
उसको नहीं।"
नहीं सुना जा सकता
न सुनते हैं उसे ही तू
लोक जिसकी उपासना
उसको नहीं।"
से प्राण वायु से श्वांस
ता नहीं अपितु जिससे
पार में लगा है उसे ही
लोक जिसकी उपासना
उसको नहीं।"

....केनोपनिषद्

आत्म-बोध

(केन, ईश उपनिषद्)

सुधीर 'नमन'

चिन्मय ज्ञानपीठ

दिल्ली

समर्पण

वात्सल्यमयी माँ एवं श्रद्धेय स्व. पिता को
जिनके संस्कारवश एवं करुणास्वरूप
अपनी भावाभिव्यक्ति को
लेखनीबद्ध करने योग्य हो सका।

पुरोवाक्

वेदोक्त कोरे कर्मकाण्ड से ऊबकर जब मनीषियों के हृदय में इस विराट अस्तित्व के रहस्य को जानने की मुमुक्षा ने जन्म लिया तो उपनिषद् रचे गये। शाब्दिक रूप से उपनिषद् शब्द उप + नि + सद् + क्विप् से मिलकर बना है जिसका अर्थ है गुरु के निकट रहस्यमय ज्ञान की प्राप्ति के लिए बैठना। उपनिषद् साहित्य मे अस्तित्व के रहस्य का उद्‌घाटन, निरूपण एवं विवेचन किया गया है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मज्ञान है। साथ ही उपनिषद् यह उद्‌घोषणा भी करते हैं कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही कुछ पिंड में है। बृहदारण्यक उपनिषद् स्पष्टतः कहती है, 'अपने भीतर आत्मा को देखो और पहचानो।' 'आत्मा ही' जानने योग्य है। अतः मेरी दृष्टि में उपनिषद् ग्रंथ आत्म-बोध की दिशा में ही एक प्रस्थान हैं।

वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने के कारण इन्हें वेदान्त कहा जाता है। मुख्यतः 11 उपनिषद हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वर उपनिषद्। ईश उपनिषद् आकार में सबसे छोटी होने पर भी सभी उपनिषदों का मूल कहलाती है। इसमें कहा गया है कि सभी कुछ ब्रह्म से ओत-प्रोत है। केन उपनिषद् में ब्रह्म की महत्ता और अज्ञेयता दर्शायी गयी है। मेरी अल्पबुद्धि मे उपनिषद् ग्रंथ कोई वैचारिक प्रस्थान न होकर मुमुक्षों का आत्मानुभव है जो अपनी अनूठी, मधुर शैली में हमें अन्तर्मन्थन करने को बाध्य करते हैं। प्रस्तुत भाष्य प्रारम्भ करने से पूर्व मैं नतमस्तक हूँ गुरुतुल्या श्रद्धेय बौद्ध

भिक्षुणी कात्सु जी का जिनकी करुणा एव सान्निध्य मे मुझे एक नवीन जीवन दृष्टि प्राप्त हुई और जिन्होंने मुझे सदैव लेखन के लिए प्रोत्साहित किया। अनुग्रहीत हूँ अपनी धर्मपत्नी का जिन्होंने जीवन-पथ पर मुझे सदैव जागृति प्रदान की। नमन करता हूँ समस्त अस्तित्व को जिसका मैं एक अंग-मात्र हूँ।

सुधीर 'नमन'

अनुक्रम

1. केनोपनिषद्
   (1) प्रथम खण्ड 9
   (2) द्वितीय खण्ड 19
   (3) तृतीय खण्ड 27
   (4) चतुर्थ खण्ड 39
2. ईशोपनिषद् 47
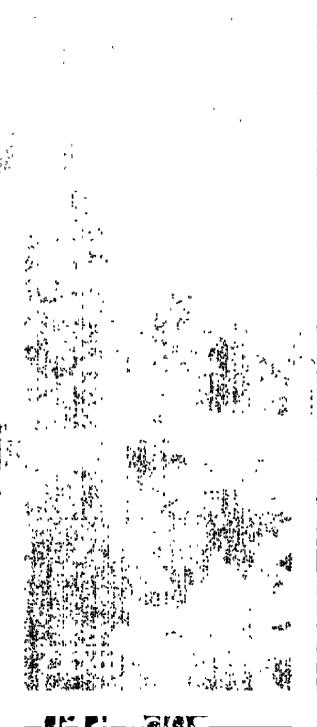
केनोपनिषद्

बहुत कम लोग होते हैं जिनके मन में अन्तर्जगत के प्रश्न उठते हैं। अधिकांश तो शरीर से ही ऊपर नहीं उठ पाते। शरीर को अपना अस्तित्व मान बैठते हैं। कुछ हैं जो अधिक से अधिक मन तक पहुँचते हैं। मन के साथ एकात्म हो, उसे ही अपना सत्य मानते हैं। मन से आगे की खोज करने वाले गिने-चुने ही होते हैं। किन्तु क्या यह सभ्य मानव समाज के लिए उचित है ?

अन्तर्मन में स्वयं के प्रति प्रश्नों का न उठना, न केवल मूढ़ता है अपितु एक गहन मूर्च्छा प्रदर्शित करता है। कौन हूँ मैं ? क्या है मेरा स्वरूप ? इन प्रश्नों का न उठना दुःखद है। मानव समाज ने निरंतर अबाध प्रगति की है। पृथ्वी से लेकर अन्य ग्रहों तक खोज की जा रही है। अपने पड़ौसी से लेकर विश्व के कोने-कोने तक फैली जानकारी के विषय में हमारी गहन उत्सुकता है। किन्तु स्वयं के प्रति हमारी कोई जागरूकता नहीं है।

स्वयं को नहीं जाना, तो कुछ भी जानना व्यर्थ है। जो जान रहा है वह स्वयं के प्रति यदि अज्ञान में है तो उसका ज्ञान कैसे खरा हो सकता है। और स्वयं को जानने के उपरान्त कुछ और जानने को शेष नहीं रहता। ऋषियों की वाणी है कि जो कुछ इस पिड (शरीर) में है वही ब्रह्माण्ड मे है। उपनिषद्-ग्रंथ इस अंतर्मन्थन की दिशा में अनूठे ग्रंथ हैं, जो अपनी

मधुर शैली मे हमे अपने भीतर झाकने को विवश करते हे केनोपनिषद् केवल वैचारिक उथल-पुथल नहीं, अपितु ऋषि का आत्म-बोध है। जीवन-सत्य के प्रति उत्सुक एक जिज्ञासु प्रश्न करता है—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।१

"किसकी इच्छा से यह मन प्रेरित होकर विषयों की ओर गिरता है? किसके द्वारा नियुक्त प्रथम प्राण गति करता है ? हम किसकी प्रेरणा से यह वाणी बोलते हैं ? कौन दिव्य आत्मा नेत्रों और कानों को अपने व्यापार में लगाता है ?"

सर्वप्रथम ॐ अर्थात् परमात्मा का नाम लेकर यह उपनिषद् प्रारम्भ होती है। परमात्मा का नाम लेकर कार्य प्रारम्भ करना अपने अहंकार को एक किनारे रख देना है। धर्म की राह में यह पहला चरण है। जब तक अहकार है तब तक धर्म का मार्ग नहीं दिख सकता। इसलिए जिज्ञासु स्वयं को अज्ञानी स्वीकार कर ईश्वर के नाम से प्रारम्भ कर गुरु से प्रश्न करता है—कौन है जो मन, प्राण, वाणी, नेत्र, कान आदि इन्द्रियों को अपने कार्य में लगाता है ? क्या ये स्वयं समर्थ हैं अथवा इनके पीछे कोई कारणरूप में विद्यमान है ? मन किसके कारण विषयों में गिरता है ? ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'गिरना' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्राणी सदैव विषयों में गिरता ही है। विषय शब्द विष से बना है। संसार के सभी विषय विष के समान मूर्च्छा प्रदान करने वाले हैं और मूर्च्छा में सदैव पतन होता है, ऊर्ध्वगमन नहीं। विषय क्या है इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि आप जागरूक नहीं हैं तो संसार ही नहीं, धर्म भी मूर्च्छा है; और धर्म की मूर्च्छा बहुत सूक्ष्म है। ***'किसके द्वारा नियुक्त प्रथम प्राण गति करता है ?'*** प्राण को यहाँ प्रथम कहा गया है क्योंकि इसके अभाव में हमारी इन्द्रियाँ निस्तेज हैं। सभी के आगे प्राण चलता है। कौन है जो इस प्राण को अपने व्यापार में लगाता है ? यद्यपि प्राण से हमारी इन्द्रियाँ सतेज होती हैं परन्तु उसके उपरान्त भी हम किसकी प्रेरणा से बोलते हैं ? कौन दिव्य शक्ति है जिसके कारण हमारे नेत्र, कान आदि अपने-अपने कार्य में लगते हैं ?

जिज्ञासु शिष्य के उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में ऋषि कहते हैं—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राण :।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।२

"जो कानों का कान है, मन का मन है, वाणी की वाणी है, वह ही प्राण का प्राण और नेत्रों का नेत्र है। धीर पुरुष ऐसा जानकर इन्द्रियों में आत्मभाव त्यागकर अमरणधर्मा हो जाते हैं।"

इस उत्तर को जानने से पहले हमें पूरी जीवन-प्रक्रिया जाननी आवश्यक है। हमारी समस्त इन्द्रियां अपने कार्य-कलाप मन का निर्देश पाकर ही करती हैं। हमारा शरीर हमारे मन से जुड़ा हुआ है। मन में क्रोध का भाव उठता है तो हमारी मुट्ठियां कस जाती हैं, नेत्र लाल हो जाते हैं। यह सूक्ष्म मन की स्थूल प्रतिक्रिया है। मन के भाव शरीर से अभिव्यक्त होते हैं। हमारे नाक, कान, ऑख आदि इन्द्रियां मन द्वारा संचालित हैं। किन्तु क्या यह मन स्वयं समर्थ है ? नहीं, ऐसा नहीं है। मन को शक्ति और गति प्राणों से प्राप्त होती है। हमारा मन हमारे प्राण की गति पर निर्भर है। क्या है यह प्राण ? जब हम श्वास लेते हैं तो जो वायु भीतर-बाहर जाती है वह प्राण नहीं है। भारत में प्राण के लिए प्राण-वायु शब्द प्रयोग में आता है। यह जो वायु हमारी नासिका से भीतर-बाहर आती जाती है वह तो मात्र एक वाहन है। इस वायु पर आरूढ़ होकर जो जीवन-ऊर्जा हमारे भीतर प्रवेश करती है उसका नाम प्राण है। जब वायु नासिका से भीतर प्रवेश करती है तो वह प्राण-ऊर्जा को साथ लाती है और जब वह बाहर निकलती है तो प्राण को भीतर छोड़कर केवल वायु बाहर निकलती है। प्राणों की गति पर ही हमारे मन की गति निर्भर करती है। क्रोध या आवेश में हमारी श्वास तीव्र हो जाती है और आनन्द अथवा शांति के क्षणों में हमारी श्वास मंद हो जाती है। संपूर्ण योगशास्त्र इसी तथ्य पर आधारित है। आत्मानुभव का एक माध्यम योग बतलाया गया है। योगशास्त्र में इसीलिए इस बात पर बल दिया गया है कि प्राणायाम इत्यादि के द्वारा किस प्रकार प्राणो की गति को सहज किया जा सके ताकि हमारा मन शान्त हो। और मन के शांत होने का अर्थ है हमारे शरीर का शांत होना। इस स्थिति में वह
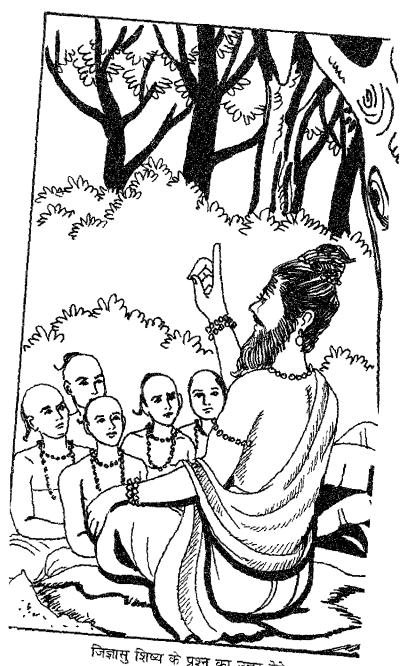
जिज्ञासु शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए।

क्षण आता है जब हम अन्तर्जगत में प्रवेश कर आत्मानुभव को प्राप्त होते हैं।

किन्तु यह प्राण भी स्वय समर्थ नहीं है। यह तो मात्र एक सूत्र है, एक ऊर्जा-सूत्र जो हमारे शरीर को हमारे अस्तित्व से जोड़ता है। उसे अस्तित्व कहो या आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। हमारा आत्म-बोध ही हमें हमारे अस्तित्व से एकाकार करता है। यह आत्मा ही कारणरूप से इस संपूर्ण चक्र के पीछे विद्यमान है। ऋषि ने जो उत्तर दिया है वह अत्यंत ही मधुर एव अलंकारपूर्ण भाषा में है। ***'जो कानों का कान है, मन का मन है, वाणी की वाणी है, वह ही प्राण का प्राण और नेत्रों का नेत्र है...'*** यह बहुत ही उपयुक्त उत्तर है। यह उत्तर बौद्धिक धरातल की उठापटक नहीं है। यह भाव और अनुभवगत सत्य है। धर्म की व्याख्या बुद्धि से प्रारम्भ होती है किन्तु समाप्त नहीं। बुद्धि के पार अनुभव के जगत को भेदकर ही उस कारणरूप परमात्मा के दर्शन होते हैं। केवल नाम का भेद है। जो शरीर में आत्मा अनुभूत होती है वही ब्रह्माण्ड में परमात्मा नामधारी है। इससे आगे ऋषि कहते हैं, ***'धीर पुरुष ऐसा जानकर इन्द्रियों में आत्मभाव का त्यागकर अमरणधर्मा हो जाते हैं।'*** धीर पुरुष अर्थात् जिनका मन शान्त हो गया है, जिनका प्राणों की गति पर संयम है। वे यह सत्य जानकर कि यह आत्मा ही अंतिम सत्य है, इन्द्रियों से जुड़े अज्ञान को त्याग देते हैं। वे इन्द्रियों में आत्मभाव अर्थात् इन्द्रियों को ही अपना अस्तित्व मान लेना, इस अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं। यह शरीर मरणधर्मा है। यदि हमने इससे आत्मभाव त्याग दिया तो फिर मृत्यु कैसी ? वह जो कारणरूप हमारी आत्मा है, वह न पैदा होती है, न मरती है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।।३

"वहाँ नेत्र नहीं पहुँचते, न वाणी जाती है, न मन जाता है। शिष्य को इसका उपदेश किस प्रकार दिया जाए यह न हम जानते

है न हमारी समझ में है। वह विदित से भी परे है और अविदित से भी परे हैं। हमसे पूर्वकाल में होने वाले ऋषियों से हम ऐसी ही व्याख्या सुनते आए हैं।"

शिष्य की जिज्ञासा का निराकरण करते हुए ऋषि और आगे बढ़ते हैं *'वहाँ नेत्र नहीं पहुँचते, न वाणी जाती है, न मन जाता है।...'* उस आत्मा को हम देख नहीं सकते, न उसे सुनने का ही कोई साधन है। वह नेत्रों एवं वाणी की पकड़ से बाहर है। वहाँ तक मन की पहुँच भी नहीं है। मन को उसका कोई अनुभव नहीं है। जब तक मन है तब तक आत्मा नहीं है। मन की मृत्यु होने पर ही वह आत्मा प्रकट होती है। समस्त अनुभूतियाँ इस मन का विषय हैं। आत्मा का अनुभव नहीं अपितु बोध होता है। देखा जाए तो आत्मानुभव शब्द ही उपयुक्त नहीं है। यदि हम आत्म-बोध कहें तो उचित होगा। मन को केवल अनुभव होते हैं, बोध मन के लिए अज्ञेय है। अतः मन भी वहाँ तक नहीं जाता।

'शिष्य को उसका उपदेश किस प्रकार दिया जाए यह न हम जानते हैं, न हमारी समझ में है...' इस आत्मा का व्याख्यान किस प्रकार किया जाए यह हम नहीं जानते और न ही यह हमारी बुद्धि के लिए सम्भव है। यह स्थिति ऐसी है कि हम किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। क्या करें, कुछ कह नहीं सकते। इस आत्मा की व्याख्या असम्भव है। *'वह विदित से भी परे है और अविदित से भी परे है।...'* शिष्य को तरह-तरह से समझाते हुए ऋषि कहते हैं कि वह आत्मा विदित से परे है। जो कुछ विदित है, जाना जा सकता है उससे परे है। जानने के लिए कोई जानने वाला होना चाहिए। यदि हम किसी संबंध में जानना चाहते हैं तो हमारी उपस्थिति अनिवार्य है। किन्तु आत्मा के संबंध में तो यह भी एक समस्या है। उसे जाना नहीं जा सकता क्योंकि वह तुम ही तो हो। तुम स्वयं अपने आप को किस प्रकार विदित हो सकते हो ? विदित होने के लिए दूसरे का होना अनिवार्य है। किन्तु वह आत्मा अविदित से भी परे है। हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि वह आत्मा अविदित है, क्योंकि हम अपने होने को किस प्रकार अस्वीकार कर सकते हैं ?

'हमसे पूर्वकाल में होने वाले ऋषियों से हम ऐसी ही व्याख्या सुनते आए हैं।' अपने उत्तर की पुष्टि एवं शिष्य को संतुष्ट करते हुए ऋषि पुनः कहते हैं कि हमसे पूर्वकाल में जो ऋषि हुए हैं, जिन्होंने आत्म-बोध किया है उनसे भी हमने यही सुना है जैसा मैंने तुम्हें उपदेश दिया है। जिसने भी जाना है उसने यही कहा है। आत्म-बोध सर्वथा मौन में उतरा है, उसकी कोई अभिव्यक्ति संभव नहीं।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।४

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।५

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।६

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।७

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदवे ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।८

"जो वाणी से प्रकट नहीं किया जा सकता अपितु जिससे वाणी प्रकट होती है, उसे ही तू ब्रह्म जान। यह लोक जिसकी उपासना करता है उसको नहीं।"

"जिसका मन से मनन नहीं होता अपितु जिससे मन मनन करता है, उसे ही तू ब्रह्म जान। यह लोक जिसकी उपासना करता है उसको नहीं।"

"जिसको नेत्र से नहीं देखा जा सकता अपितु जिससे नेत्र देखते हैं, उसे ही तू ब्रह्म जान। यह लोक जिसकी उपासना करता है उसको नहीं।"

"जिसको कान से नहीं सुना जा सकता अपितु जिससे कान सुनते हैं, उसे ही तू ब्रह्म जान। यह लोक जिसकी उपासना करता है उसको नहीं।"

"जिसको नासिका के द्वारा प्राण-वायु से श्वास लेने की आवश्यकता नहीं, अपितु जिससे यह प्राण अपने व्यापार में लगा है उसे ही तू ब्रह्म जान। यह लोक जिसकी उपासना करता है उसको नहीं।"

जिसको मन, वाणी, नेत्र, कान आदि इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता अपितु जिसके कारण ये सभी अपने-अपने विषयों में क्रियाशील हैं वही ब्रह्म है और वही हमारा आत्मस्वरूप है। जिसे प्राण-वायु की आवश्यकता नहीं बल्कि जिस के कारण प्राण प्राणित हो रहा है वही ब्रह्म है। यह संसार जिसकी उपासना कर रहा है वह चाहे कोई भी हो, ब्रह्म नहीं है। आत्मा से भिन्न कोई ब्रह्म नहीं है। यदि हम किसी की उपासना करते हैं तो हम उपासक और उपास्य का भेद करते हैं। किन्तु जब उपासक स्वयं आत्मस्वरूप है तो उपासना किसकी ? स्वयं की उपासना संभव नहीं। स्वयं का तो बोध ही हो सकता है। अतः यह संसार जिसकी भी आराधना कर रहा है वह ब्रह्म नहीं है; यह आत्मा ही ब्रह्म है।

अहंकार के छूटने पर ही धर्म की राह प्रारम्भ होती है। जब तक अहंकार जीवित है तब तक समस्त ज्ञान अहंकार को ऊर्जा ही प्रदान करता है। ज्ञानी के लिए सबसे बड़ा खतरा उसका अहंकारी होने का भय है। इस ब्रह्माण्ड के समस्त कार्यकलाप के पीछे ब्रह्म कारण है और वही ब्रह्म इस शरीर में अस्तित्वरूप आत्मा है। मैं ही ब्रह्म हूँ, यह बोध हमारा अहंकार न बन जाए। इसी को ध्यान में रखकर सभी ज्ञानमार्गी बुद्ध पुरुषों ने विनम्रता और संयम पर बहुत बल दिया है। केनोपनिषद् के आगे के मंत्र शिष्य के हृदय में अहंकार उत्पन्न न हो जाए यही सोचकर उसे विचलित करने के लिए कहे गये हैं।

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणी रूपम।
यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।१

"यदि तू यह मानता है कि मैं ब्रह्म को भली भाँति जानता हूँ तो तू उसको बहुत थोड़ा सा ही जानता है। जो स्वरूप तू जानता है और जो विद्वान लोगों को ज्ञात है, वह भी केवल विचार करने योग्य ही है।"

ऋषि शिष्य से कहते हैं कि यदि तू ऐसा समझता है कि मैं अपने स्वरूप

को पूर्णतया जान गया हूँ तो तू भारी भूल में है। केवल तू ही नहीं विद्वान लोग भी जितना उसे जान पाए हैं वह केवल मीमांसा के, तर्क -वितर्क के योग्य ही है। जब तक जानने वाला शेष है तब तक आत्मबोध अपूर्ण है। यदि तू ऐसा मानता है कि मैं जान गया तो तुझे उसकी केवल एक झलक ही मिली है। यह सुनकर शिष्य अपना मत स्पष्ट करते हुए कहता है।

> नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
> यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।।२

"मैं यह नहीं मानता कि मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ, और न यह मानता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता। जानता भी हूँ और नहीं भी जानता। हममें से जो यह समझता है, वही जानता है।"

शिष्य स्पष्ट करता है कि उसे ज्ञाता होने का अहंकार नही है। न तो वह ऐसा समझता है कि वह जान गया है और न ही वह यह विचारता है कि वह अज्ञानी है। वह जानता भी है और नहीं भी जानता। अन्य शिष्यों की ओर भी संकेत करके वह कहता है कि हममें से जो भी ऐसा सोचता है केवल वही जानता है। देखने में तो यहाँ पर हमें शिष्य की विनम्रता झलकती है। किन्तु सूक्ष्म रूप से देखें तो वह विनम्रता के मुखौटे में अहंकार ग्रस्त है। वह स्वयं को ज्ञाता ही मानता है। अतः ऋषि अब स्पष्ट रूप से उत्तर देते हैं कि

> यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।३

"जो ऐसा समझता है कि वह नहीं जानता, वही उसे जानता है। जो समझता है कि वह जानता है उसने उसे नहीं जाना। वह जाननेवालों के लिए न जाना हुआ और न जाननेवालों के लिए जाना हुआ है।"

आत्मबोध को प्राप्त होने के लिए बौद्धिक ज्ञान और साधना से

अधिक   है एक सरल हृदय का होना। तभी तो कबीर जैसे अनपढ़ भी प्रज्ञापुरुष की उपाधि को प्राप्त हो सके। ज्ञानी केवल विद्वान ही रह जाते हैं और साधारण सा 'धन्ना' जाट भी ईश्वर से वार्तालाप कर लेता है। वास्तव में जो उसे नहीं जानता वही उसे जानता है। वह जानने का विषय नही है। वहाँ तो कुछ होने की बात है। तुम ब्रह्म हो सकते हो, उसे जान नहीं सकते। कैसे समझाओगे किसीको कि आकाश क्या है ? उड़ो और आकाश हो जाओ। जो ऐसा सोचता है कि उसने परमात्मा को जान लिया, वह अभी मन और बुद्धि में अटका हुआ है। वह न तो जान पाया है और न ही कभी जान पायेगा। क्योंकि जान-जानकर उसका अहंकार दिन प्रतिदिन प्रबल होता जा रहा है। जानना मन का विषय है और जब तक मन है तब तक वह नहीं प्रकट होता। उसे तो वही जानता है जो उसे नहीं जानता। किन्तु कितने हैं जो उसे नहीं जानते ? बच्चे से लेकर बूढे तक सभी ईश्वर को जानते हैं। थोड़ा बहुत नहीं, बल्कि बहुत गहरा जानते हैं। 'आत्मा नश्वर है। मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर तो केवल वस्त्र है।' ये सभी ब्रह्मवाक्य प्रत्येक व्यक्ति की जिह्वा पर प्रतिदिन सुनने को मिल सकते हैं। ढूँढ़ने पर भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा जो कहे कि मै उसे नही जानता। वस्तुतः जो नहीं जानता, वही जानता है। गिने-चुने व्यक्ति कभी पेदा होते हैं जो न जानकर भी सभी कुछ जान लेते हैं। समूचा संसार जानने के भ्रम में है। इस जानने के फलस्वरूप ही मानव जीवन बहुत शुष्क हो गया है।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।।४

"प्रतिबोध से जाना हुआ ज्ञान अमरत्व को प्राप्त कराता है। आत्मा से शक्ति प्राप्त होती है और विद्या से अमरपद प्राप्त होता है।"

अपने उस निज स्वरूप का बोध कैसे हो ? उपरोक्त मंत्र इसी ओर इंगित करता है। केन ऋषि कहते हैं, ***'प्रतिबोध से जाना हुआ ज्ञान***

प्रतिबोध से जाना हुआ ज्ञान अमरत्व को प्रा

अमरत्व को प्राप्त कराता है।' यहाँ प्रतिबोध शब्द जान लेने जैसा है इस दृश्य जगत में हम जो भी ज्ञान अर्जन करते हैं वह बोध कहलाता है। किन्तु अपने निज-स्वरूप का बोध बाहरी जगत से कैसे संभव है ? इसके लिए तो हमें अपने भीतर उतरना पड़ेगा। यह जो अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना है, यही प्रतिबोध कहलाता है। भगवान बुद्ध ने इसके लिए 'विपश्यना' शब्द का प्रयोग किया है। बाहरी जगत को देखना 'पश्यना' कहलाता है और जब हम अपनी दृष्टि को उलटकर भीतर देखना शुरू करते हैं तो वह 'विपश्यना' कहलाता है। प्रतिबोध उसीका दूसरा नाम है। योगशास्त्र में जिसे ध्यान कहते है वह भी प्रतिबोध की ही प्रक्रिया है। जब हम अपने भीतरी आकाश में उड़ान भरते हैं तब हम एक दिन अपने निज वास्तविक स्वरूप से जा मिलते हैं। और यह मिलन हमें जन्म और मृत्यु की भ्राँति से दूर कर देता है। हम अपने अमरत्व का साक्षात्कार कर लेते हैं। ***'आत्मा से शक्ति प्राप्त होती है और विद्या से अमरपद प्राप्त होता है।'*** जब हम प्रतिबोध की ओर यात्रा करते हैं और ध्यानावस्था में होते हैं तो हमें आत्मजागृति के फलस्वरूप अपनी अथाह शक्ति का ज्ञान होता है। यह परम शक्ति कुण्डलिनी के नाम से विख्यात है। यह चक्रो का भेदन कर के जब ऊपर उठती है तो हमें एक नवीन विद्या अथवा ज्ञान प्राप्त होता है। अपने अन्तिम चक्र सहस्रार पर पहुँच कर जो ऊर्जा विस्फोट होता है वह हमें उस पद पर पहुँचा देता है जहाँ न कोई जन्म है न कोई मृत्यु। न कोई आदि है, न कोई अन्त। केवल मैं ही शेष रहता हूँ। या कह सकते हैं कि सब कुछ विराट में लय हो जाता है। मैं अस्तित्वरूप हो जाता हूँ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।५

"यदि इस जीवन में तूने उसे जान लिया तब तो उचित है, अगर इस जीवन में नहीं जाना तो बड़ी हानि है। ज्ञानी लोग जगत के समस्त जड़-चेतन पदार्थों में उसे भली प्रकार से जानकर इस लोक से मुक्त हो जाते हैं।"

जो कुछ है वर्तमान ही है भूत और भविष्य केवल भ्रान्तियाँ हैं भूत और भविष्य तो केवल हमारे मन का विषय एवं निर्मिति हैं। हमारा अनुभव और आकांक्षाएँ, हमे कभी वर्तमान में नही जीने देती। हम सदैव 'क्या था' और 'क्या होना चाहिए' इसी चक्र में घूमते रहते हैं। और देखा जाए तो यही संसरण संसार कहलाता है। हम एक पल के लिए भी वर्तमान में नहीं जीते। 'जो है' उसका अवलोकन नहीं करते। ***'यदि इस जीवन में तूने उसे जान लिया तब तो उचित है, अगर इस जीवन में नहीं जाना तो बड़ी हानि है।'*** आत्मबोध के लिए यह जीवन अति मूल्यवान है। इसे इसी जीवन में प्राप्त कर सको तो उत्तम है। भूत और भविष्य में चक्कर न काटो। पूर्वकाल में जिन लोगों ने उसका बोध किया वह तुम्हारे किसी काम नहीं आएगा। भविष्य में मैं उसे जान लूँगा यदि ऐसा विचार है तो वह समय भी कभी नहीं आएगा। न भूत है, न भविष्य। यह वर्तमान क्षण जागृति के लिए ही मिला है। यदि इससे चूके तो अमूल्य गँवा दोगे। वर्तमान में जागृति से जीओ और आत्मोपलब्धि को प्राप्त होओ। ***'ज्ञानी लोग जगत के समस्त जड़-चेतन पदार्थों में उसे भली प्रकार से जानकर इस लोक से मुक्त हो जाते हैं।'*** व्यष्टि में जो आत्मा है वही समष्टि में ब्रह्म है। तुम ही सर्वत्र व्याप्त हो। यहाँ इस ब्रह्मांड में जड़ कुछ भी नहीं है। कण-कण में वही व्याप्त है। ज्ञानी पुरुषों ने उसका दर्शन अस्तित्व के कण-कण में किया है। भली प्रकार से उसे जाना है। जैसा प्रतिबोध के द्वारा उन्हें अपने भीतर ज्ञात हुआ है वही प्रतीति उन्हें ब्रह्माण्ड मे हुई है। ऐसा जानकर वे लोग मुक्त हो जाते हैं। जन्म-मरण, सुख-दुःख इस द्वैत से वे मुक्त हो जाते हैं।

यह समस्त ब्रह्माण्ड तुम्हारा ही विस्तार है। इस ब्रह्माण्ड की संरचना तुम्हारी संरचना से भिन्न नहीं है। ऋषियों ने बार-बार कहा है कि जो इस शरीर में है वही इस ब्रह्माण्ड में है। इस उपनिषद् के पूर्व खण्डों में दर्शाया गया है कि हमारी समस्त इन्द्रियों के कार्यकलाप का मूल कारण ब्रह्म है। अब ऋषि इस बाहरी जगत की ओर दृष्टि कर उसी सत्य को समझाने का प्रयास करते है, जिस प्रकार आँख, नाक, कान, आदि इस शरीर का कार्य संचालन करते हैं उसी प्रकार इन्द्र, अग्नि, जल, वायु आदि इस ब्रह्माण्ड में कार्यरत हैं। किन्तु वे अत्यंत बलशाली होने पर भी ब्रह्म के कारण ही अपने कार्यों में सक्षम हैं। इसी को लक्ष्य करते हुए यह उपनिषद् आगे बढ़ती है।

एक रोचक कथा के माध्यम से ब्रह्म की कारणरूप सत्ता को दर्शाया गया है। देवासुर संग्राम को माध्यम बनाकर, एक प्रतीक के रूप में रखकर, ब्रह्माण्ड की शक्तियों के पीछे ब्रह्म को कारण बताया गया है।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति।।१

"निश्चित रूप से ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की।

यक्ष ने अग्निदेवता से पूछा कि तू कौन है ?

उसकी ही विजय में देवता गौरव अनुभव करने लगे। उन्होंने यह सोचा कि यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है।"

सत्य का आश्रय लेकर जो व्यक्ति चलता है उसकी सदैव जीत होती है। ज्ञानियों ने कहा है 'सत्मेव जयते।' सत्य ही जीतता है। व्यक्ति नहो जीतता, अपितु सत्य की विजय होती है। व्यक्ति उसे अपनी विजय समझकर अहंभाव से भर जाता है। तभी तो उसे दुख भी देखना पड़ता है। वस्तुतः विजय सत्य की होती है। सत्य, जो अव्यक्त है, ब्रह्म है, तुम्हारा आत्मस्वरूप है। वही विजित होता है किन्तु हम विजय का श्रेय इस भौतिक शरीर को दे देते हैं। हम ही नहीं. दिव्यात्माओं ने. देवताओं ने भी असुरों पर जो विजय प्राप्त की उसे अपनी विजय मान लिया। वे अहंकारी हो गये। किन्तु वह विजय तो उन्हें इसीलिए मिली थी क्योंकि उन्हें सत्य का, ब्रह्म का आश्रय था। वह विजय तो ब्रह्म की थी। किन्तु देवता अहंकार से भरकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगे। उन्होंने यह माना कि यह हमारा ही महत्त्व है, हमारी ही महिमा है कि हमें विजयश्री प्राप्त हुई है।

तद्धैषां विजज्ञौ तेभयो ह प्रादुर्बभूव
तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।।२

"उस ब्रह्म ने देवताओं के इस अभिमान को जान लिया और उनके लिए प्रकट हुआ। देवताओं ने उसको नहीं पहचाना कि यह यक्ष कौन है।"

'उस ब्रह्म ने देवताओं के इस अभिमान को जान लिया।' ब्रह्म जान लेता है। यह सहज है। यह किसी का कार्यकलाप नहीं, अपितु स्वभाविक है। गेंद दीवार की ओर फेकते हैं तो वह वापस आती ही है। सत्य की दृष्टि असीम होती है। उससे सभी कुछ प्रकाशित होता है तो वह अंधकार में कैसे रह सकता है ? *'और उनके लिए प्रकट हुआ।'* वह ब्रह्म देवताओं के अभिमान को जानकर उनके लिए प्रकट हुआ। वह अत्यंत करुणाशील है। यह जानकर कि ये देवता अहंकार से भरे हैं, उनके

कल्याण के लिए अत्यंत तेजोमय यक्ष के रूप में प्रगट हुआ। उसका प्रगट होना अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिए नहीं था। वह तो देवताओं के कल्याण के लिए, उन दिव्यात्माओं को शुद्ध करने के लिए, लोकहित में प्रकट हुआ।

'देवताओं ने उसको नहीं पहचाना कि यह यक्ष कौन है।' साधारण जन तो अहं से भरे, ईश्वर को पहचानते ही नहीं हैं, वे दिव्य आत्माएँ भी उसको नहीं पहचान सकीं। यद्यपि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, फिर भी वह अपने अत्यंत महिमाशाली रूप में देवों की इन्द्रियों का विषय बनकर दिव्य रूप में प्रकट हुआ। देवता अहं के मद से चूर उसे न पहचान सके। लेकिन उसके तेज सम्मुख उन्हें अपनी महिमा क्षीण होती लगी। तभी उनके हृदय में यह प्रश्न उठा कि यह पूजनीय, महिमावान कौन है?

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति।।३

"देवताओं ने अग्नि से कहा, हे जातवेदस् ! इसको ज्ञात करो कि यह यक्ष कौन है ? अग्नि बोला, बहुत अच्छा।"

देव भयभीत हुए। उन्हें अपना तेज क्षीण होता लगा। अतः उन्होंने अग्निदेवता से आग्रह किया। अहंकारी कितना ही बलशाली हो, सदैव भयभीत होता है। बाहर से देखने पर वह अवश्य ही निर्भीक दीखता है किन्तु यथार्थ रूप में वह स्वयं में भयभीत रहता है। इस भय को वह अपने बल रूपी तेज से दूर करने का प्रयास करता है। इसीलिए देवता भी महातेजस्वी अग्निदेवता से आग्रह करने लगे कि हे जातवेदस् ! अर्थात् सभी में विद्यमान एवं सभी पदार्थों को जानने वाले, तुम ही यह ज्ञात करके आओ कि यह पूजनीय, दिव्य यक्ष कौन है। तुम हम सबमें सर्वाधिक तेज-स्वरूप हो अतः तुम ही सर्वप्रथम जाओ और इस रहस्य का उद्घाटन करो। अग्निदेवता ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उस दिव्य पुरुष की ओर चला।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति।।४

"अग्नि उस यक्ष की ओर तीव्रता से गया। यक्ष ने अग्नि से पूछा कि तू कौन है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं निश्चित रूप से अग्नि हूँ, मैं निश्चित रूप से जातवेदा हूँ।"

'अग्नि उस यक्ष की ओर तेजी से गया।' अहंकारी सदैव तीव्र गति से ही जाता है। उस दिव्य यक्ष-रूपी ब्रह्म ने उसे देख प्रश्न किया कि तू कौन है ? इस पर अग्नि-देवता ने तुरंत ही उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ। अपनी प्रशंसा में अपने अन्य गुण की चर्चा करते हुए अग्नि-देवता बोला कि मैं ही प्रसिद्ध जातवेदा हूँ।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति।।५

"उस तुममें क्या बल है ? (अग्नि ने कहा) इस पृथ्वी पर जो यह सब कुछ है मैं उस संपूर्ण को जला सकता हूँ।"

अग्नि के इस अभिमानपूर्ण स्वप्रशंसा के वचन सुनकर ब्रह्म ने कहा—'**उस तुममें क्या बल है ?**' उस तुम में, अर्थात् जो तूने अपना प्रसिद्ध गुण बतलाया है ऐसे नामधारी तुझ अग्नि में क्या सामर्थ्य है ? यह सुनकर अग्नि-देवता ने कहा कि इस पृथ्वी पर जो कुछ भी विद्यमान है मैं उसे जलाकर भस्म कर सकता हूँ।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।।६

"अग्नि के सामने यक्ष ने एक तिनका रखा और कहा—'इसे जला'। अग्नि-देवता उसके निकट गया परन्तु अपने सम्पूर्ण बल से भी उसे नहीं जला पाया। वह वहाँ से वापस लौट आया। देवताओं से बोला कि मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।"

अग्नि-देवता ने सम्पूर्ण चराचर को भस्म कर देने की जो सामर्थ्य बतलाई उसे सिद्ध करने के लिए ही ब्रह्म ने उसे परीक्षा देने को कहा। एक छोटा-सा तिनका उसके सम्मुख रखकर कहा कि यदि तू इसे जला दे तो तेरा गुण सिद्ध हो। अग्नि देवता सम्पूर्ण वेग से उस तिनके को जलाने के लिए दौड़ा।

अपनी अथाह शक्ति के सम्मुख उसे यह परीक्षा उपहास जैसी लगी। अत: वह एक क्षण में उस तिनके को जला डालने के लिए पूरी शक्ति से उस तृण की ओर दौड़ा। किन्तु वह अपने इस प्रयास में असफल हुआ। लज्जित हो, अग्निदेवता देवताओं के पास वापस लौट आया और अपनी असफलता प्रकट की। वह उस दिव्य पुरुष को नहीं जान पाया।

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति।।७

"इसके उपरान्त देवताओं ने वायु से कहा कि हे वायु!यह जानो कि यह यक्ष कौन है ? वायु बोला, बहुत अच्छा!"

अग्निदेवता के निरूत्तर हो, लज्जित लौट आने पर देवताओं ने वायुदेवता को उस यक्ष के पास भेजा। अहंकारी देवताओं ने तेज की पराजय होने पर वेगवान वायु को इस कार्य में समर्थ समझा। अभिमानी के पास बल और वेग यही दो शक्तियाँ होती हैं। वायुदेवता को अपने गुणों पर अभिमान था अतः उसने यह स्वीकार किया।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति।।८

"वायु उस यक्ष की ओर गया। यक्ष ने उससे पूछा कि तू कौन है ? वायु ने कहा कि मैं निश्चित रूप से वायु हूँ, मैं निश्चित रूप से मातरिश्वा हूँ।"

वायुदेवता भी उस दिव्य पुरुष को जानने के लिए आगे बढ़ा। उस ब्रह्म के परिचय माँगने पर उसने भी अग्नि के समान ही अपने गुणों का व्याख्यान किया। वायु ने कहा कि मैं गमन करने के कारण वायु हूँ। इस अन्तरिक्ष में विचरण एवं बढ़ने के कारण ही मुझे मातरिश्वा कहते हैं।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति।।९

"उस तुममें क्या बल है ? (वायु ने कहा) इस पृथ्वी पर जो यह सब कुछ है मैं उसे उड़ा सकता हूँ।"

ब्रह्म ने वायुदेवता से भी वही प्रश्न किया कि तू जो अपने इतने गुण बतला रहा है तो तुझमें क्या बल है ? वायुदेवता ने अभिमान भरे स्वर मे कहा कि इस सम्पूर्ण चराचर पर जो कुछ भी है, मैं उसे एक क्षण में उडाकर फेक देने का सामर्थ्य रखता हूँ। मेरे सम्मुख कोई भी नहीं टिक सकता।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।।१०

"वायु के सामने यक्ष ने एक तिनका रखा और कहा, 'इसे उड़ा।' वायु उसके निकट गया परन्तु अपने सम्पूर्ण बल से भी उसको नहीं उड़ा पाया। वह वहाँ से वापस लौट आया। देवताओं से बोला कि मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।"

दिव्य यक्ष-रूपधारी ब्रह्म के सामने वायुदेवता की भी वही दयनीय स्थिति हुई जैसी कि अग्निदेवता की। महाबलशाली वायुदेवता जो कि अपने प्रबल वेग से सब कुछ तहस-नहस करने में सक्षम था वह एक तिनके को भी नहीं उड़ा सका। अन्ततः वह लज्जित होकर वापस लौट आया और उस दिव्य पुरुष को जानने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति।
तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे।।११

"इसके उपरान्त देवताओं ने इन्द्र से कहा कि हे मघवन ! यह जानो कि यह यक्ष कौन है ? इन्द्र ने कहा, 'बहुत अच्छा।' वह उस यक्ष की ओर गया किन्तु वह यक्ष इन्द्र के सामने से तिरोहित हो गया।"

अग्नि और वायु दोनों ही ब्रह्म को पहचानने में अक्षम हो और स्वयं को निर्बल जान कर वापस लौटे तो देवताओं ने अपने राजा इन्द्र को भेजा। वे बोले, हे मघवन ! अर्थात् बलशाली इन्द्र, इस रहस्य का तुम ही पता लगाओ। देवराज इन्द्र अपने ऐश्वर्य और बल में स्वयं को सर्वोपरि मानते

इन्द्र के सम्मुख उमा प्रगट हुई।

थे। वे यक्ष का रहस्य जानने को आगे बढ़े तो वह यक्ष उनके सामने से ओझल हो गया।

इन्द्र उसे इधर-उधर आकाश में ढूँढने लगे। दिव्य यक्षरूपी ब्रह्म ने इन्द्र का अभिमान तोड़ने के लिए ऐसा किया। अग्नि और वायु को तो उस दिव्य पुरुष से वार्तालाप करने का अवसर भी मिला किन्तु देवराज इन्द्र तो उसे ढूँढते ही रह गये। राजा प्रजा के लिए ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। जैसे प्राण हमारे शरीर को हमारे अस्तित्व से जोड़ने में सूत्र का काम करता है उसी प्रकार भौतिक तल पर राजा ही ईश्वर और प्रजा के बीच सूत्र का कार्य करता है। यदि राजा मद में अंधा होकर स्वयं को प्रतिनिधि न मानकर स्वामी बन बैठे तो उसका यह अभिमान क्षम्य नहीं है। अतः दिव्य यक्षरूपी ब्रह्म ने इन्द्र का अभिमान तोड़ा कि तू तो वार्तालाप के योग्य भी नहीं है। अब देवराज इन्द्र की उत्सुकता और भी बढ़ गई। इन्द्र के लिए यह अपमान असहनीय था।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ
हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति।।१२

"इन्द्र उस आकाश में एक स्त्री के पास पहुँचा। उस शोभामयी सुवर्णभूषणों से युक्त उमा नामवाली स्त्री से बोला कि 'यह यक्ष कौन है?"

इन्द्र उस दिव्य पुरुष को न पाकर उसे जानने के लिए व्याकुल हो उठा। उसे अपनी सामर्थ्य पर शंका उत्पन्न होने लगी। जब वह उस दिव्य पुरुष की तलाश में इधर-उधर आकाश में देख रहा था तो उसे एक अत्यंत शोभायमान स्त्री दिखलाई पड़ी। सुवर्ण आभूषणों से युक्त होने के कारण उसका शरीर कान्तिमान था। वह शैलपुत्री शिव-अर्द्धांगिनी उमा थीं।

उमा का अर्थ है बुद्धि एवं प्रकाश। इन्द्र उन्हें देख हतप्रभ हुआ। उसका विवेक काम नहीं कर रहा था। अतः विद्या-देवी उमा प्रकट हुई। इन्द्र ने उनसे पूछा—**'यह दिव्य पुरुष कौन है ?'** जिस प्रकार प्राणी प्रतिबोध के द्वारा अपने भीतर अपने आत्मस्वरूप के दर्शन करता है उसी प्रकार

इस ब्रह्माण्ड मे अपने विस्तार को जानने के लिए उसे ब्रह्मविद्या का सहारा लेना पड़ता है। जैसे प्रतिबोध सदैव आत्मा के निकट रहता है उसी प्रकार उमा-रूपी ब्रह्म-विद्या भी सदैव शिव के निकट रहती है। यहाँ बाहरी जगत में प्रतिबोध के लिए उमा शब्द प्रयोग किया गया है। यह शब्द इस उपनिषद् में सर्वप्रथम आया है। इस प्रकार ऋषि का उपदेश है कि जैसे हमारी इन्द्रियो के पीछे हमारा आत्मस्वरूप है उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड की दिव्य शक्तियो के पीछे भी वही आत्मस्वरूप ब्रह्म के नाम से विख्यात है।

केनोपनिषद्
चतुर्थ खण्ड